Shikshan Sanshodhan : Journal of Arts, Humanities and Social Sciences ISSN(o): 2581-6241
Monthly, Peer-Reviewed, Refereed, Indexed Journal Impact Factor: 9.134
Volume - 9, Issue - 3, March - 2026

DOIs:10.2018/SS/202603004 --:-- Research Paper / Article / Review

भारत के विभाजन (1947) में मुस्लिम लीग, कांग्रेस तथा अन्य राजनीतिक संगठनों और प्रमुख नेताओं की भूमिका का समग्र विश्लेषण

[1] Meenakshi Rawat, [2] Dr Dilawar Nabi Bhat
[1] Research Scholar, Department of History, NIMS University Rajasthan, Jaipur.
[2] Assistant Professor, Department of History, NIMS University Rajasthan, Jaipur.
[1] Email - rawat01meenakshi@gmail.com

Abstract: प्रस्तुत शोध पत्र **1947** के भारत विभाजन की जटिल राजनीतिक प्रक्रियाओं, वैचारिक संघर्षों और विभिन्न संगठनों की भूमिका का एक गहन विश्लेषण प्रदान करता है। विभाजन केवल एक भौगोलिक बँटवारा नहीं था, बल्कि यह औपनिवेशिक नीतियों, सांप्रदायिक ध्रुवीकरण और रणनीतिक विफलता की परिणति थी। यह लेख भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की 'अखंड भारत' की अवधारणा और मुस्लिम लीग के 'द्वि-राष्ट्र सिद्धांत' के बीच के वैचारिक द्वंद्व का परीक्षण करता है।इसके अतिरिक्त, यह शोध पत्र मुख्यधारा के दलों से इतर हिंदू महासभा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, अकाली दल, कम्युनिस्ट पार्टी और खुदाई खिदमतगार जैसे संगठनों के प्रभाव को रेखांकित करता है, जिन्होंने विभाजन की दिशा और गति को प्रभावित किया। लेख में मोहम्मद अली जिन्ना, जवाहरलाल नेहरू, महात्मा गांधी और सरदार पटेल जैसे प्रमुख व्यक्तित्वों के दृष्टिकोणों और उनके द्वारा लिए गए निर्णयों का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया गया है। अंतिम खंडों में, कैबिनेट मिशन की विफलता से लेकर माउंटबेटन योजना की जल्दबाजी और रेडक्लिफ रेखा द्वारा उत्पन्न मानवीय त्रासदी का विवरण दिया गया है। अंततः, यह शोध पत्र यह निष्कर्ष निकालता है कि विभाजन ने न केवल उपमहाद्वीप के भूगोल को बदला, बल्कि एक ऐसी स्थायी राजनीतिक और सामाजिक विरासत छोड़ी जो आज भी दक्षिण एशिया के द्विपक्षीय संबंधों और सांप्रदायिक विमर्श को प्रभावित करती है।

Key Words (मुख्य शब्द): विभाजन, मुस्लिम लीग, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, द्वि-राष्ट्र सिद्धांत, रेडक्लिफ रेखा, सांप्रदायिकता, माउंटबेटन योजना।

1. प्रस्तावना: विभाजन के बीज और वैचारिक संघर्ष

14-15 अगस्त 1947 की उस ऐतिहासिक मध्यरात्रि को, जब दुनिया गहरी नींद में सो रही थी, भारतीय उपमहाद्वीप एक नई सुबह की ओर जाग रहा था। लेकिन यह सुबह केवल स्वतंत्रता का प्रकाश लेकर नहीं आई थी, बल्कि अपने साथ सदियों के इतिहास, भूगोल और मानवीय संवेदनाओं के विखंडन का गहरा अंधेरा भी लाई थी। भारत का विभाजन केवल दो नए राष्ट्रों—भारत और पाकिस्तान—का उदय नहीं था, बल्कि यह आधुनिक इतिहास की सबसे बड़ी मानवीय विभीषिका थी। यह एक ऐसा घाव था जिसने न केवल जमीन को दो हिस्सों में काटा, बल्कि घरों, परिवारों और सदियों पुरानी साझा विरासत को भी निर्ममता से अलग कर दिया। विभाजन की इस त्रासदी को समझने के लिए हमें केवल 1947 की घटनाओं तक सीमित नहीं रहना चाहिए। इसकी जड़ें बहुत गहरी थीं और उन वैचारिक दरारों में निहित थीं, जिन्हें समय के साथ राजनीतिक स्वार्थों और औपनिवेशिक नीतियों ने और भी चौड़ा कर दिया था। 19वीं सदी के अंत तक, भारत में राष्ट्रवाद

की लहर उठने लगी थी, लेकिन इस राष्ट्रवाद के साथ-साथ पहचान की राजनीति भी अंकुरित हो रही थी। ब्रिटिश साम्राज्य ने, जो 'फूट डालो और राज करो' (Divide and Rule) की कला में निपुण था, यह भली-भांति समझ लिया था कि यदि भारत की विशाल जनसंख्या संगठित होकर खड़ी हो गई, तो ब्रिटिश शासन का अंत निश्चित है। विभाजन की पृष्ठभूमि में सबसे बड़ा कारक 'सांप्रदायिक पहचान' का राजनीतिकरण था। 1905 के बंगाल विभाजन से लेकर 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना तक, ब्रिटिश सरकार ने जानबूझकर ऐसे कदम उठाए जिससे हिंदू और मुस्लिम समुदायों के बीच अविश्वास का बीज बोया जा सके। 1909 के 'मार्ले-मिंटो सुधारों' ने मुसलमानों के लिए 'पृथक निर्वाचन मंडल' (Separate Electorates) का प्रावधान करके सांप्रदायिकता को संवैधानिक जामा पहना दिया। इस एक कदम ने यह सुनिश्चित कर दिया कि भविष्य में राजनीति धर्म के इर्द-गिर्द ही घूमेगी, क्योंकि अब एक मुस्लिम उम्मीदवार को केवल मुस्लिम मतदाताओं को ही लुभाना था। जैसे-जैसे स्वतंत्रता आंदोलन जोर पकड़ता गया, वैचारिक संघर्ष भी तेज होता गया। एक तरफ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस थी, जो एक 'साझा राष्ट्रवाद' की बात करती थी—जहाँ धर्म व्यक्तिगत आस्था का विषय था और राष्ट्रवाद एक सामूहिक पहचान। दूसरी तरफ, मुस्लिम लीग का बढ़ता प्रभाव था, जिसने धीरे-धीरे 'द्वि-राष्ट्र सिद्धांत' को अपना मुख्य आधार बना लिया। इस सिद्धांत का तर्क था कि हिंदू और मुसलमान केवल दो अलग-अलग धार्मिक समूह नहीं हैं, बल्कि वे दो अलग-अलग राष्ट्र हैं जिनकी संस्कृति, परंपराएं, महापुरुष और यहाँ तक कि सामाजिक मूल्य भी एक-दूसरे के विपरीत हैं। 1930 के दशक के उत्तरार्ध में यह वैचारिक खाई एक राजनीतिक गतिरोध में बदल गई। 1937 के प्रांतीय चुनावों ने इस आग में घी का काम किया। कांग्रेस ने अधिकांश प्रांतों में सरकार बनाई, लेकिन मुस्लिम लीग के साथ सत्ता साझा करने से इनकार कर दिया। इस राजनीतिक अलगाव ने मुस्लिम लीग को यह प्रचार करने का हथियार दे दिया कि एक हिंदू बहुल भारत में मुसलमानों का भविष्य सुरक्षित नहीं है। यहीं से 'इस्लाम खतरे में है' का नारा बुलंद हुआ और पाकिस्तान की मांग एक अस्पष्ट विचार से निकलकर एक ठोस राजनीतिक लक्ष्य बन गई। विभाजन केवल नेतृत्व की मेज पर लिए गए निर्णयों का परिणाम नहीं था, बल्कि यह उस बढ़ते हुए अविश्वास की परिणति थी जिसे सांप्रदायिक दंगों ने और भी हवा दी। 1940 का 'लाहौर प्रस्ताव' इसी वैचारिक संघर्ष का चरम बिंदु था, जहाँ मोहम्मद अली जिन्ना ने स्पष्ट कर दिया कि अब समझौता संभव नहीं है। उस समय के नेताओं—गांधी, नेहरू, पटेल और जिन्ना—के बीच का संवाद केवल राजनीतिक वार्तालाप नहीं था, बल्कि वह दो अलग-अलग भारत की कल्पनाओं के बीच का युद्ध था। एक भारत जो अपनी विविधता में एकता खोज रहा था, और दूसरा जो अपनी धार्मिक पहचान के आधार पर एक नया घर मांग रहा था। अंततः, 1947 का विभाजन उस अविश्वास की विजय थी, जिसे दशकों तक पोषित किया गया था। इस प्रस्तावना के माध्यम से हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि कैसे राजनीतिक महत्वाकांक्षाएं, औपनिवेशिक षड्यंत्र और वैचारिक कट्टरता ने मिलकर दुनिया के सबसे पुराने और समृद्ध सभ्यताओं में से एक को दो हिस्सों में बाँट दिया। यह इतिहास हमें यह भी याद दिलाता है कि जब संवाद का स्थान हठ ले लेता है, तो उसकी कीमत उन आम लोगों को चुकानी पड़ती है, जिनका राजनीति से कोई लेना-देना नहीं होता।

2. मुस्लिम लीग और 'द्वि-राष्ट्र सिद्धांत' का विकास

मुस्लिम लीग का इतिहास और उसके वैचारिक परिवर्तन को समझे बिना भारत के विभाजन की कहानी अधूरी है। 1906 में ढाका के नवाब सलीमुल्लाह के नेतृत्व में जब 'ऑल इंडिया मुस्लिम लीग' का गठन हुआ, तो इसका प्राथमिक उद्देश्य ब्रिटिश शासन के प्रति वफादारी जताना और मुस्लिम अभिजात वर्ग के लिए सरकारी नौकरियों व राजनीति में आरक्षण प्राप्त करना था। उस समय किसी ने कल्पना भी नहीं की थी कि यह संगठन चार दशक बाद एक नए राष्ट्र का निर्माता बनेगा। लीग की प्रारंभिक राजनीति 'सहयोग और सुरक्षा' पर आधारित थी, न कि 'अलगाव' पर। 1913 में मोहम्मद अली

जिन्ना के लीग में शामिल होने के बाद, एक समय ऐसा भी आया जब वे 'हिंदू-मुस्लिम एकता के राजदूत' के रूप में उभरे। 1916 का 'लखनऊ समझौता' इस एकता का चरम बिंदु था, जहाँ कांग्रेस और लीग ने मिलकर अंग्रेजों के सामने अपनी मांगें रखी थीं। लेकिन 1920 के दशक में शुरू हुए असहयोग और खिलाफत आंदोलन के दौरान धार्मिक भावनाओं के राजनीतिकरण ने धीरे-धीरे दोनों समुदायों के बीच एक अदृश्य दीवार खड़ी करनी शुरू कर दी। असली वैचारिक मोड़ 1930 के दशक में आया। 1930 में इलाहाबाद अधिवेशन के दौरान कवि और दार्शनिक सर मोहम्मद इकबाल ने पहली बार उत्तर-पश्चिम भारत में एक स्वायत्त मुस्लिम राज्य की अवधारणा प्रस्तुत की। हालांकि इकबाल ने तब पूर्ण स्वतंत्रता की बात नहीं की थी, लेकिन उन्होंने यह बीज बो दिया था कि भारतीय मुसलमानों की एक विशिष्ट सांस्कृतिक और राजनीतिक पहचान है जिसे एक संघीय ढांचे के भीतर संरक्षण की आवश्यकता है। इसी समय कैम्ब्रिज के छात्र चौधरी रहमत अली ने 'पाकिस्तान' शब्द गढ़ा, जिसे उस समय के वरिष्ठ नेताओं ने "छात्रों की कल्पना" कहकर ठुकरा दिया था। 1937 के प्रांतीय चुनावों ने इस पूरी प्रक्रिया की दिशा बदल दी। ब्रिटिश भारत के इतिहास में पहली बार कांग्रेस ने शानदार जीत दर्ज की, जबकि मुस्लिम लीग मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में भी बुरी तरह विफल रही। इस हार ने जिन्ना को एक नई रणनीति बनाने पर मजबूर किया। उन्होंने महसूस किया कि यदि लीग को प्रासंगिक रहना है, तो उसे आम मुस्लिम जनता तक पहुँचना होगा और इसके लिए उन्होंने 'इस्लाम खतरे में है' का भावुक नारा दिया। 1937 के बाद, जिन्ना का व्यक्तित्व पूरी तरह बदल गया। अब वे एक उदारवादी राष्ट्रवादी नहीं, बल्कि एक अडिग सांप्रदायिक नेता थे जो 'द्वि-राष्ट्र सिद्धांत' के सबसे बड़े पैरोकार बन गए थे। 'द्वि-राष्ट्र सिद्धांत' (Two-Nation Theory) केवल एक राजनीतिक नारा नहीं था, बल्कि एक जटिल सामाजिक तर्क था। जिन्ना ने तर्क दिया कि हिंदू और मुसलमान केवल दो धार्मिक समुदाय नहीं हैं, बल्कि वे दो अलग-अलग सभ्यताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्होंने 1940 के प्रसिद्ध भाषण में कहा था, *"हिंदू और मुस्लिम दो अलग-अलग धर्मग्रंथों, इतिहासों और परंपराओं से प्रेरित हैं। वे एक साथ कभी नहीं मिल सकते, क्योंकि उनके सामाजिक ताने-बाने और जीवन के प्रति दृष्टिकोण मौलिक रूप से भिन्न हैं।"* इस सिद्धांत के अनुसार, एक एकीकृत भारत में लोकतंत्र का अर्थ होगा 'बहुसंख्यकवाद', जहाँ मुसलमान हमेशा हिंदुओं के अधीन रहेंगे।23 मार्च, 1940 को लाहौर के मिंटो पार्क (अब इकबाल पार्क) में मुस्लिम लीग ने ऐतिहासिक 'लाहौर प्रस्ताव' पारित किया। इस प्रस्ताव ने स्पष्ट शब्दों में मांग की कि जिन क्षेत्रों में मुसलमानों की संख्या अधिक है (जैसे उत्तर-पश्चिम और पूर्वोत्तर भारत), उन्हें स्वतंत्र और संप्रभु राज्यों के रूप में गठित किया जाए।

यह दिलचस्प है कि इस प्रस्ताव में कहीं भी 'पाकिस्तान' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया था, लेकिन इसके आशय ने स्पष्ट कर दिया था कि अब 'अखंड भारत' की बात करना समय की बर्बादी होगी। जिन्ना ने इस दौरान अपनी रणनीतिक चतुराई का परिचय देते हुए द्वितीय विश्व युद्ध का लाभ उठाया। जब कांग्रेस के नेता 'भारत छोड़ो आंदोलन' के कारण जेलों में थे, जिन्ना ने ब्रिटिश सरकार के साथ अपने संबंधों को मजबूत किया और खुद को 'भारतीय मुसलमानों के एकमात्र प्रतिनिधि' के रूप में स्थापित कर लिया। उन्होंने आम मुस्लिम जनता के मन में यह विश्वास पैदा कर दिया कि पाकिस्तान केवल एक राजनीतिक क्षेत्र नहीं, बल्कि एक 'पवित्र भूमि' होगी जहाँ वे अपने धर्म और संस्कृति के अनुसार जी सकेंगे। इस प्रकार, 1940 से 1947 के बीच, मुस्लिम लीग ने द्वि-राष्ट्र सिद्धांत को एक ऐसी भावनात्मक लहर में बदल दिया, जिसके सामने तर्क और एकता की सभी अपीलें विफल हो गईं। जिन्ना ने न केवल एक देश की मांग की, बल्कि उन्होंने एक ऐसी पहचान का निर्माण किया जिसने लाखों लोगों को अपने पड़ोसियों, मित्रों और साझा इतिहास के विरुद्ध खड़ा कर दिया। यह सिद्धांत ही विभाजन की वह वैचारिक धुरी बना, जिसने उपमहाद्वीप के भूगोल को हमेशा के लिए लहूलुहान कर दिया।

3. कांग्रेस की रणनीति और वैचारिक द्वंद्व

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लिए विभाजन केवल एक राजनीतिक हार नहीं थी, बल्कि यह उस बुनियादी दर्शन की विफलता थी जिस पर इस संगठन की नींव रखी गई थी। कांग्रेस का गठन एक ऐसे समावेशी मंच के रूप में हुआ था, जो धर्म, जाति और भाषा से ऊपर उठकर एक साझा 'भारतीय' पहचान की वकालत करता था। महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और मौलाना अबुल कलाम आजाद जैसे नेताओं के लिए भारत एक अखंड भौगोलिक इकाई नहीं, बल्कि एक जीवंत साझा संस्कृति थी।कांग्रेस का सबसे बड़ा वैचारिक द्वंद्व यह था कि वह खुद को 'राष्ट्र' का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था मानती थी, जबकि ब्रिटिश सरकार और मुस्लिम लीग उसे केवल 'हिंदुओं की पार्टी' के रूप में चित्रित करने का प्रयास करते रहे। 1920 के दशक में गांधीजी ने खिलाफत आंदोलन का समर्थन कर हिंदू-मुस्लिम एकता को एक नई ऊंचाई दी थी, लेकिन 1930 के दशक के उत्तरार्ध तक आते-आते यह एकता दरकने लगी। 1937 के चुनावों के बाद कांग्रेस द्वारा सत्ता साझा करने से इनकार करना एक रणनीतिक चूक साबित हुई। नेहरू जैसे नेताओं का तर्क था कि केवल दो ही राजनीतिक शक्तियाँ हैं—ब्रिटिश और कांग्रेस। इस बयान ने जिन्ना को यह कहने का मौका दिया कि "तीसरी शक्ति मुस्लिम लीग है," जिसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।जब मुस्लिम लीग ने 'पाकिस्तान' की मांग को तेज किया, तो कांग्रेस नेतृत्व के भीतर गहरा मतभेद पैदा हो गया। एक तरफ महात्मा गांधी थे, जो विभाजन के विचार को 'ईश्वर के अपमान' के समान मानते थे। उनका मानना था कि यदि भारत का विभाजन हुआ, तो यह उनकी दशकों की अहिंसक साधना की हार होगी। दूसरी तरफ जवाहरलाल नेहरू और सरदार वल्लभभाई पटेल जैसे युवा और व्यावहारिक नेता थे। 1940 के दशक के मध्य तक नेहरू और पटेल को यह अहसास होने लगा था कि जिन्ना के साथ किसी भी प्रकार का समझौता एक 'कमजोर केंद्र' की ओर ले जाएगा। नेहरू एक आधुनिक, औद्योगिक और समाजवादी भारत का सपना देख रहे थे, जिसके लिए एक शक्तिशाली केंद्रीय सरकार का होना अनिवार्य था। उन्हें डर था कि लीग के साथ गठबंधन सरकार में हर छोटे फैसले पर गतिरोध होगा, जिससे स्वतंत्र भारत विकास के बजाय आंतरिक संघर्षों में उलझ जाएगा।1946 की 'अंतरिम सरकार' (Interim Government) के कड़वे अनुभवों ने कांग्रेस नेतृत्व को विभाजन की ओर धकेल दिया। जब लियाकत अली खान (मुस्लिम लीग के नेता) वित्त मंत्री बने, तो उन्होंने नेहरू के हर प्रशासनिक कदम पर अड़ंगा लगाया। सरदार पटेल, जो गृह विभाग देख रहे थे, ने महसूस किया कि प्रशासनिक ढांचा भीतर से खोखला हो रहा है। उन्होंने प्रसिद्ध रूप से कहा था कि "यदि हम विभाजन नहीं करते, तो भारत के हर कार्यालय में एक पाकिस्तान होता।"विभाजन की ओर अंतिम कदम 1946 के 'डायरेक्ट एक्शन डे' के बाद उठी हिंसा की लहर थी। कलकत्ता और बिहार में हुए दंगों ने यह स्पष्ट कर दिया कि अब 'हृदय परिवर्तन' का समय बीत चुका है। गांधीजी अभी भी दंगों की आग में पैदल चलकर शांति की अपील कर रहे थे, लेकिन नेहरू और पटेल ने व्यावहारिक यथार्थ को स्वीकार कर लिया था। उन्होंने कांग्रेस कार्यसमिति में विभाजन के प्रस्ताव को इस भारी मन से स्वीकार किया कि यह एक गृहयुद्ध को रोकने का एकमात्र उपाय है। कांग्रेस के लिए यह एक कड़वा समझौता था—उन्होंने एक अखंड भूमि को खो दिया ताकि एक कार्यात्मक और स्थिर लोकतंत्र की रक्षा की जा सके। यह वैचारिक द्वंद्व आज भी भारतीय राजनीति में धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रवाद की बहसों के रूप में जीवित है।

4. अन्य राजनीतिक संगठनों की निर्णायक भूमिका

भारत के विभाजन की पटकथा केवल कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच का संवाद नहीं थी; यह कई क्षेत्रीय, धार्मिक और वैचारिक धाराओं का एक जटिल संगम था। इन अन्य संगठनों ने न केवल अपने विशिष्ट समुदायों के हितों को स्वर दिया, बल्कि कई बार कांग्रेस और लीग पर ऐसा दबाव बनाया जिसने विभाजन की दिशा और गति तय की।

1. **हिन्दू महासभा और वैचारिक ध्रुवीकरण:** हिन्दू महासभा 'अखंड भारत' की सबसे मुखर समर्थक थी। सावरकर और मदन मोहन मालवीय जैसे नेताओं के नेतृत्व में इस संगठन ने लीग की अलगाववादी मांगों का तीव्र विरोध किया।

हालांकि, यहाँ एक ऐतिहासिक विरोधाभास दिखाई देता है। वी.डी. सावरकर ने 1937 के अपने भाषण में हिंदू और मुस्लिम को दो अलग सांस्कृतिक राष्ट्रों के रूप में परिभाषित किया था। यद्यपि उनका उद्देश्य हिंदुओं को संगठित करना था, लेकिन इस 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' ने अनजाने में जिन्ना के 'द्वि-राष्ट्र सिद्धांत' को वैचारिक ऑक्सीजन प्रदान की। महासभा की आक्रामक राजनीति ने मुस्लिम लीग को मुस्लिम जनता के बीच यह डर फैलाने में मदद की कि एक एकीकृत भारत में उनकी पहचान सुरक्षित नहीं रहेगी।

2. **अकाली दल और पंजाब की त्रासदी:** सिख समुदाय के लिए विभाजन एक अस्तित्वगत संकट था। मास्टर तारा सिंह के नेतृत्व में अकाली दल ने शुरू में विभाजन का कड़ा विरोध किया क्योंकि सिख धर्म के पवित्र स्थल और सिखों की उपजाऊ जागीरें पंजाब के दोनों हिस्सों में फैली हुई थीं। अकालियों ने 'सिखिस्तान' की मांग भी रखी ताकि वे कांग्रेस और लीग के बीच एक 'बफर स्टेट' के रूप में सुरक्षित रह सकें। लेकिन जब गृहयुद्ध जैसी स्थिति बनी, तो सिख नेतृत्व ने महसूस किया कि मुस्लिम लीग के प्रभुत्व वाले पाकिस्तान में रहने के बजाय वे भारत के साथ सुरक्षित रहेंगे। सिखों के इस कड़े रुख ने ही पंजाब के विभाजन को अनिवार्य बना दिया।
3. **यूनियनिस्ट पार्टी और सीमांत गांधी:** पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी और उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रांत में 'खुदाई खिदमतगार' (रेड शर्ट्स) ऐसे संगठन थे जिन्होंने अंतिम समय तक सांप्रदायिक सौहार्द की मशाल जलाए रखी। यूनियनिस्ट पार्टी—जिसमें हिंदू, मुस्लिम और सिख किसान शामिल थे—ने वर्षों तक लीग को पंजाब से बाहर रखा। लेकिन 1946 के चुनावों तक लीग ने "इस्लाम खतरे में है" के नारे के साथ इस धर्मनिरपेक्ष नींव को हिला दिया। इसी तरह, खान अब्दुल गफ्फार खान के नेतृत्व में खुदाई खिदमतगारों ने NWFP को भारत के साथ बनाए रखने के लिए संघर्ष किया। जब कांग्रेस ने विभाजन स्वीकार किया, तो गफ्फार खान का हृदय विदारक बयान इतिहास में दर्ज हुआ: "आपने हमें भेड़ियों (सांप्रदायिक ताकतों) के सामने फेंक दिया है।"
4. **कम्युनिस्ट पार्टी (CPI) का वैचारिक स्टैंड:** एक और महत्वपूर्ण खिलाड़ी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी थी। शुरू में, CPI ने 'आत्मनिर्णय के अधिकार' का समर्थन किया, जिसका तर्क यह था कि भारत विभिन्न राष्ट्रीयताओं का एक समूह है और हर क्षेत्र को अलग होने का अधिकार होना चाहिए। इस विचार ने अनजाने में पाकिस्तान की मांग को एक 'प्रगतिशील' और 'बौद्धिक' आधार प्रदान किया। हालांकि बाद में पार्टी ने इसका विरोध किया, लेकिन तब तक विभाजन का वैचारिक आधार काफी मजबूत हो चुका था। इन विविध संगठनों की भूमिका यह दर्शाती है कि विभाजन केवल दो नेताओं की जिद नहीं, बल्कि कई सामाजिक-राजनीतिक दबावों की सामूहिक परिणति थी।

5. प्रमुख नेताओं का योगदान और रणनीतिक मतभेद

भारत के विभाजन की पटकथा केवल ऐतिहासिक परिस्थितियों या औपनिवेशिक षड्यंत्रों का परिणाम नहीं थी, बल्कि यह उन शीर्ष नेताओं के व्यक्तिगत निर्णयों, उनके हठ और उनकी वैचारिक प्रतिबद्धताओं की परिणति थी जिन्होंने उस समय सत्ता की बागडोर संभाली हुई थी। 1940 के दशक तक आते-आते, वार्ता की मेज पर बैठे नेताओं के बीच अविश्वास की खाई इतनी गहरी हो चुकी थी कि संवाद के सभी सेतु लगभग टूट चुके थे। इस खंड में हम मोहम्मद अली जिन्ना, जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल और महात्मा गांधी की विशिष्ट भूमिकाओं का विश्लेषण करेंगे।

1. **मोहम्मद अली जिन्ना: पाकिस्तान के अडिग निर्माता** -मोहम्मद अली जिन्ना का रूपांतरण भारतीय राजनीति के सबसे रहस्यमयी अध्यायों में से एक है। एक समय में 'हिंदू-मुस्लिम एकता के राजदूत' कहे जाने वाले जिन्ना 1940 के दशक तक 'पाकिस्तान के निर्विवाद कायदे-आजम' बन चुके थे। जिन्ना की राजनीति पूरी तरह से 'एकल-मार्गी' (Single-minded) थी। उन्होंने महसूस किया कि एक लोकतांत्रिक और एकीकृत भारत में, जहाँ

हिंदू बहुमत में होंगे, मुस्लिम समुदाय कभी भी पूर्ण राजनीतिक सत्ता का स्वाद नहीं चख पाएगा।जिन्ना की सबसे बड़ी ताकत उनकी संवैधानिक तर्कशक्ति और उनकी अडिग जिद थी। उन्होंने द्वि-राष्ट्र सिद्धांत को एक ऐसी ढाल के रूप में इस्तेमाल किया जिसने कांग्रेस की धर्मनिरपेक्षता को 'हिंदू वर्चस्व' के रूप में चित्रित किया। जिन्ना ने यह भांप लिया था कि ब्रिटिश सरकार युद्ध के बाद जल्द से जल्द भारत छोड़ना चाहती है, और उन्होंने इस अवसर का लाभ उठाकर खुद को 'भारतीय मुसलमानों के एकमात्र प्रवक्ता' के रूप में स्थापित कर दिया। 1946 में उनके द्वारा आह्वान किया गया 'सीधी कार्रवाई दिवस' (Direct Action Day) एक रणनीतिक मास्टरस्ट्रोक था जिसने यह साबित कर दिया कि यदि उनकी पाकिस्तान की मांग नहीं मानी गई, तो वे पूरे उपमहाद्वीप को अराजकता में झोंकने की क्षमता रखते हैं। जिन्ना के लिए पाकिस्तान केवल एक जमीन का टुकड़ा नहीं था, बल्कि एक ऐसी संप्रभुता थी जहाँ मुसलमान अपने भाग्य के स्वयं विधाता बन सकें।

2. **जवाहरलाल नेहरू: आधुनिकता और अखंडता के बीच का द्वंद्व -** जवाहरलाल नेहरू एक ऐसे नेता थे जिनका दृष्टिकोण पूरी तरह से आधुनिक, धर्मनिरपेक्ष और समाजवादी था। नेहरू के लिए भारत एक प्राचीन सभ्यता थी जो विज्ञान और औद्योगिकीकरण के माध्यम से एक आधुनिक राष्ट्र बनने की राह पर थी। विभाजन के प्रति नेहरू का दृष्टिकोण जिन्ना के प्रति उनके व्यक्तिगत नापसंद और एक मजबूत केंद्रीय सरकार की उनकी कल्पना से प्रभावित था। नेहरू को डर था कि यदि जिन्ना की शर्तों पर 'कमजोर केंद्र' वाला भारत बनाया गया, जहाँ प्रांतों के पास बहुत अधिक स्वायत्तता होगी, तो भारत कभी भी एक आर्थिक शक्ति नहीं बन पाएगा। उन्हें लगा कि एक खंडित लेकिन एकीकृत प्रशासनिक ढांचा (A Partitioned but Centralized State) उस अखंड भारत से बेहतर है जो भीतर से खोखला और निरंतर दंगों व वीटो पावर की राजनीति से त्रस्त हो। नेहरू की यह "सर्जिकल" सोच थी–वे मानते थे कि शरीर के एक रोगग्रस्त अंग को काटकर अलग कर देना ही शेष शरीर को बचाने का एकमात्र तरीका है। हालांकि, उनकी कुछ रणनीतिक गलतियों, जैसे 1946 की कैबिनेट मिशन योजना पर उनकी विवादास्पद प्रेस कॉन्फ्रेंस, ने अनजाने में विभाजन की आग में घी डालने का काम किया।
3. **सरदार वल्लभभाई पटेल: यथार्थवादी रणनीतिकार-** सरदार पटेल को 'लौह पुरुष' कहा जाता है, और विभाजन की प्रक्रिया में उनका योगदान सबसे अधिक व्यावहारिक और यथार्थवादी (Realpolitik) था। पटेल ने नेहरू से भी पहले यह भांप लिया था कि मुस्लिम लीग के साथ गठबंधन सरकार चलाना एक दुःस्वप्न की तरह है। अंतरिम सरकार में गृह मंत्री के रूप में, उन्होंने अपनी आँखों से देखा कि कैसे मुस्लिम लीग के सदस्य प्रशासन के भीतर समानांतर सत्ता चला रहे थे। पटेल ने बहुत स्पष्ट रूप से कहा था कि "यदि हम विभाजन नहीं करते, तो भारत के हर कार्यालय और हर गली में एक पाकिस्तान होता।" उन्होंने महसूस किया कि सांप्रदायिक अविश्वास अब इस स्तर पर पहुँच चुका है जहाँ पीछे मुड़ना संभव नहीं है। पटेल ने अपनी संगठनात्मक शक्ति का उपयोग करते हुए विभाजन को स्वीकार किया ताकि कांग्रेस कम से कम शेष भारत को एक सूत्र में पिरो सके। उनके लिए प्राथमिकता एक कार्यात्मक देश की थी, चाहे वह थोड़ा छोटा ही क्यों न हो। रियासतों के एकीकरण में उनकी सफलता इसी व्यावहारिक सोच का परिणाम थी कि एक मजबूत केंद्र के बिना भारत बिखर जाएगा।
4. **महात्मा गांधी: एक एकाकी शांतिदूत-** इन सबके बीच महात्मा गांधी एक ऐसे पथिक थे जो उस राजनीतिक दिशा के बिल्कुल विपरीत चल रहे थे जिस पर उनके शिष्य (नेहरू और पटेल) बढ़ रहे थे। गांधीजी के लिए विभाजन एक भौगोलिक बँटवारा नहीं, बल्कि सत्य और अहिंसा की हार थी। वे अंत तक यह मानते रहे कि भारत का विभाजन उनकी "लाश पर" होगा। जब दिल्ली में सत्ता के बँटवारे की कागजी कार्रवाई हो रही थी,

गांधीजी नोखाली और बिहार के दंगा प्रभावित क्षेत्रों में नंगे पाँव शांति की अपील कर रहे थे। उनकी त्रासदी यह थी कि उनके अपने अनुयायी अब उनके आदर्शवाद के बजाय पटेल और नेहरू के यथार्थवाद को चुन चुके थे। गांधीजी ने महसूस किया कि उनके वर्षों के अहिंसक आंदोलनों के बावजूद, जनता के दिलों में सांप्रदायिकता का जहर बहुत गहरा उतर चुका है। वे एक ऐसे 'असहाय' मार्गदर्शक बन गए थे जिसकी नैतिक अपील तो सबको स्वीकार्य थी, लेकिन जिसकी राजनीतिक सलाह को सबने दरकिनार कर दिया था।

5. **निष्कर्ष: नेतृत्व का सामूहिक भार-** इस खंड का विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि विभाजन केवल परिस्थितियों की मजबूरी नहीं थी, बल्कि यह इन चार व्यक्तित्वों के बीच के मानसिक और राजनीतिक युद्ध की परिणति थी। जहाँ जिन्ना ने अपनी 'नकारात्मक वीटो' शक्ति का उपयोग किया, वहीं नेहरू और पटेल ने 'प्रशासनिक स्थिरता' को प्राथमिकता दी। गांधीजी का 'नैतिक विरोध' इस राजनीतिक बवंडर के सामने टिक नहीं सका। इन नेताओं की रणनीतिक चतुरता और वैचारिक हठ ने मिलकर 1947 की उस नियति को जन्म दिया जिसने एक तरफ आजादी का जश्न मनाया और दूसरी तरफ विभाजन के आँसू बहाए। यह नेतृत्व का वह सामूहिक भार था जिसे आने वाली पीढ़ियों को सदियों तक ढोना था।

6. संवैधानिक विफलता से मानवीय त्रासदी तक: विभाजन का अंतिम चरण

1946 और 1947 के बीच के अठारह महीने भारतीय इतिहास के सबसे काले और निर्णायक क्षण थे। यह वह कालखंड था जब एक तरफ दिल्ली के वातानुकूलित कमरों में सत्ता के हस्तांतरण के नक्शे तैयार हो रहे थे, तो दूसरी तरफ पंजाब और बंगाल की गलियों में सदियों पुराना भाईचारा लहूलुहान हो रहा था। संवैधानिक वार्ताओं की विफलता और प्रशासनिक जल्दबाजी ने मिलकर एक ऐसी त्रासदी को जन्म दिया, जिसकी मिसाल आधुनिक विश्व इतिहास में कहीं और नहीं मिलती।

1. **संवैधानिक गतिरोध और 'डायरेक्ट एक्शन'** 1946 की शुरुआत में, ब्रिटिश सरकार ने 'कैबिनेट मिशन' के माध्यम से भारत को अखंड रखते हुए स्वतंत्रता देने का एक अंतिम प्रयास किया। इस मिशन का प्रस्ताव एक जटिल संघीय ढांचा था, जिसमें प्रांतों को तीन समूहों में विभाजित किया जाना था। प्रारंभ में, कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने इस पर सहमति जताई, लेकिन यह सहमति "रेत की दीवार" साबित हुई। नेहरू की एक प्रेस कॉन्फ्रेंस, जिसमें उन्होंने समूहों की अनिवार्यता पर सवाल उठाया, ने जिन्ना को मिशन से पीछे हटने का बहाना दे दिया। इसके तुरंत बाद 16 अगस्त, 1946 को 'डायरेक्ट एक्शन डे' का आह्वान किया गया। कलकत्ता की सड़कों पर हुए दंगों ने यह स्पष्ट कर दिया कि अब कागजी समझौतों का समय बीत चुका है और गृहयुद्ध की आहट शुरू हो चुकी है।
2. **माउंटबेटन योजना की जल्दबाजी** मार्च 1947 में जब लॉर्ड माउंटबेटन वायसराय बनकर आए, तो उनका एकमात्र लक्ष्य था—जल्द से जल्द अंग्रेजों की सुरक्षित विदाई। माउंटबेटन ने अपनी '3 जून योजना' प्रस्तुत की, जिसमें विभाजन की औपचारिक घोषणा की गई। इस योजना की सबसे बड़ी विडंबना इसकी "समय-सीमा" थी। माउंटबेटन ने सत्ता हस्तांतरण की तिथि को जून 1948 से घटाकर 15 अगस्त, 1947 कर दिया। इस 10 महीने की कटौती ने प्रशासनिक तंत्र को तैयारी का मौका ही नहीं दिया। सेना, पुलिस, खजाना और यहाँ तक कि सरकारी फाइलों तक का बँटवारा कुछ ही हफ्तों में करने का अव्यावहारिक लक्ष्य रखा गया, जिससे अनिश्चितता और हिंसा का माहौल और गहरा गया।

3. **रेडक्लिफ रेखा: एक अजनबी की खूनी लकीर** विभाजन की सबसे क्रूर विडंबना ब्रिटिश वकील सिरिल रेडक्लिफ का आगमन था। एक ऐसा व्यक्ति जिसने कभी भारत का नक्शा तक नहीं देखा था, उसे करोड़ों लोगों की तकदीर लिखने का जिम्मा सौंपा गया। रेडक्लिफ को केवल पांच हफ्ते दिए गए थे कि वे पंजाब और बंगाल जैसे जटिल प्रांतों को दो हिस्सों में काट दें। रेडक्लिफ ने जमीनी हकीकत को समझे बिना केवल मानचित्रों पर लकीरें खींच दीं। इस "कागजी लकीर" का विवरण भी स्वतंत्रता के दो दिन बाद, 17 अगस्त को सार्वजनिक किया गया। तब तक लाखों लोग इस भ्रम में थे कि वे किस देश के नागरिक हैं।
4. **मानवीय विभीषिका: स्वतंत्रता की भारी कीमत** जैसे ही सीमाएं स्पष्ट हुईं, उपमहाद्वीप के इतिहास का सबसे बड़ा और सबसे हिंसक पलायन शुरू हुआ। पंजाब और बंगाल 'जातीय सफाये' के मैदान बन गए। ट्रेनों को 'लाशों की गाड़ी' कहा जाने लगा, जो एक तरफ से दूसरी तरफ केवल कटे-फटे शरीरों को लेकर पहुँचती थीं। लगभग 1.5 करोड़ लोग विस्थापित हुए और 10 लाख से अधिक लोग मारे गए। महिलाओं और बच्चों ने इसकी सबसे अधिक कीमत चुकाई; हजारों महिलाओं का अपहरण हुआ और उन्हें अपमानजनक हिंसा का सामना करना पड़ा। यह त्रासदी नेतृत्व की उस प्रशासनिक विफलता और जल्दबाजी का परिणाम थी, जिसने मानवता के ऊपर राजनीतिक सुविधा को वरीयता दी। माउंटबेटन की 'सर्जिकल स्ट्राइक' ने भारत के शरीर को तो बाँट दिया, लेकिन उसकी आत्मा पर ऐसे घाव दे दिए जो आज आठ दशक बाद भी कश्मीर की वादियों और वाघा बॉर्डर की गर्जना में जीवित हैं।

7. निष्कर्ष

भारत का विभाजन केवल 1947 की एक ऐतिहासिक घटना नहीं है, बल्कि यह एक ऐसी निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है जिसने दक्षिण एशिया के सामाजिक, राजनीतिक और सामरिक चरित्र को हमेशा के लिए बदल दिया। यह इतिहास का वह अधूरा अध्याय है, जिसके घाव आज भी कश्मीर के मोर्चों पर, सीमा पार की घुसपैठ में और दोनों देशों के बीच होने वाले क्रिकेट मैचों के उन्माद में दिखाई देते हैं। विभाजन की राजनीति ने हमें यह सिखाया कि जब संवाद का स्थान हठ ले लेता है और साझा संस्कृति पर धार्मिक पहचान हावी हो जाती है, तो सभ्यताएं किस तरह बिखर सकती हैं। विभाजन के कारणों का विश्लेषण करते समय किसी एक पक्ष को पूरी तरह दोषी ठहराना ऐतिहासिक रूप से गलत होगा। यह ब्रिटिश साम्राज्यवाद की 'फूट डालो और राज करो' की कुटिल नीति, मुस्लिम लीग की अलगाववादी जिद, कांग्रेस की रणनीतिक चूकों और हिंदू राष्ट्रवादी संगठनों के प्रतिक्रियात्मक रुख का एक सामूहिक परिणाम था। जहाँ एक ओर जिन्ना ने पाकिस्तान को मुसलमानों के अस्तित्व की गारंटी बताया, वहीं नेहरू और पटेल ने गृहयुद्ध के डर से विभाजन को एक 'आवश्यक बुराई' के रूप में स्वीकार किया। गांधीजी इस पूरी प्रक्रिया में एक 'एकाकी योद्धा' की तरह खड़े रहे, जिन्होंने शांति की अपील तो की, लेकिन राजनीतिक वास्तविकताओं ने उनके आदर्शवाद को दरकिनार कर दिया। इस बँटवारे का सबसे बड़ा नुकसान उस 'गंगा-जमुनी तहजीब' को हुआ, जो सदियों से उपमहाद्वीप की पहचान थी। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में उभरा, जिसने अपनी विशाल मुस्लिम आबादी को गले लगाया, जबकि पाकिस्तान एक इस्लामी राष्ट्र के रूप में गठित हुआ, जहाँ समय के साथ अल्पसंख्यकों की संख्या और अधिकार कम होते गए। विभाजन ने दक्षिण एशिया में एक ऐसी स्थायी शत्रुता को जन्म दिया, जिसने दोनों देशों के अरबों रुपयों को विकास के बजाय सैन्य संसाधनों पर खर्च करने के लिए मजबूर कर दिया। आज दोनों राष्ट्र परमाणु शक्ति संपन्न हैं, जिससे इस पुराने घाव के फिर से हरा होने का खतरा पूरी दुनिया के लिए चिंता का विषय है। निष्कर्षतः, विभाजन की राजनीति हमें सचेत करती है कि ध्रुवीकरण और घृणा की नींव पर बनी इमारतें कभी भी शांतिपूर्ण नहीं हो सकतीं। 1947 की उन गलियों से

उठने वाली चीखें आज भी हमें याद दिलाती हैं कि विविधता को स्वीकार करना ही लोकतंत्र की असली मजबूती है। आज की युवा पीढ़ी के लिए यह इतिहास केवल तथ्यों का संग्रह नहीं, बल्कि एक सबक होना चाहिए—ताकि हम भविष्य में वैसी गलतियों को न दोहराएं जिन्होंने हमारी साझी विरासत को लहूलुहान कर दिया था। विभाजन एक भौगोलिक तथ्य हो सकता है, लेकिन मानवीय संवेदनाओं के स्तर पर यह आज भी एक ऐसी टीस है, जिसका अंत नहीं हुआ।

References:

1. B. Chandra, M. Mukherjee, A. Mukherjee, K. N. Panikkar, and S. Mahajan, *India's Struggle for Independence*. New Delhi, India: Penguin Books, 1989.

2. A. K. Azad, *India Wins Freedom: The Complete Version*. Hyderabad, India: Orient Blackswan, 1988.

3. S. Sarkar, *Modern India, 1885–1947*. London, U.K.: Macmillan, 1983.

4. S. Wolpert, *Jinnah of Pakistan*. New York, NY, USA: Oxford University Press, 1984.

5. A. I. Singh, *The Origins of the Partition of India, 1936-1947*. Delhi, India: Oxford University Press, 1987.

6. G. Pandey, *Remembering Partition: Violence, Nationalism and History in India*. Cambridge, U.K.: Cambridge University Press, 2001.

7. V. P. Menon, *The Transfer of Power in India*. Princeton, NJ, USA: Princeton University Press, 1957.

8. U. Butalia, *The Other Side of Silence: Voices from the Partition of India*. Durham, NC, USA: Duke University Press, 2000.

9. H. V. Hodson, *The Great Divide: Britain-India-Pakistan*. London, U.K.: Hutchinson, 1969.

10. Y. Khan, *The Great Partition: The Making of India and Pakistan*. New Haven, CT, USA: Yale University Press, 2007.